

दर्शन और सम्प्रदाय^१ ।

न्यायकुमुदचन्द्र यह दर्शनका ग्रन्थ है, सो भी सम्प्रदाय विशेषका, अतएव सर्वोपयोगिताकी दृष्टिसे यह विचार करना उचित होगा कि दर्शनका मतलब क्या समझा जाता है और वस्तुतः उसका मतलब क्या होना चाहिए । इसी तरह यह भी विचारना समुचित होगा कि सम्प्रदाय क्या वस्तु है और उसके साथ दर्शनका संबन्ध कैसा रहा है तथा उस सांप्रदायिक संबन्धके फलस्वरूप दर्शनमें क्या गुण-दोष आए हैं इत्यादि ।

सब कोई सामान्य रूपसे यही समझते और मानते आए हैं कि दर्शनका मतलब है तत्त्व-साक्षात्कार । सभी दार्शनिक अपने-अपने सांप्रदायिक दर्शनको साक्षात्कार रूप ही मानते आए हैं । यहाँ सवाल यह है कि साक्षात्कार किसे कहना ? इसका जवाब एक ही हो सकता है कि साक्षात्कार वह है जिसमें भ्रम या सन्देहको अवकाश न हो और साक्षात्कार किए गए तत्त्वमें फिर मतभेद या विरोध न हो । अगर दर्शनकी उक्त साक्षात्कारात्मक व्याख्या सबको मान्य है तो दूसरा प्रश्न यह होता है कि अनेक सम्प्रदायाश्रित विविध दर्शनोंमें एक ही तत्त्वके विषयमें इतने नाना मतभेद कैसे और उनमें असमाधेय समझा जाने-वाला परस्पर विरोध कैसा ? इस शंकाका जवाब देनेके लिए हमारे पास एक ही रास्ता है कि हम दर्शन शब्दका कुछ और अर्थ समझें । उसका जो साक्षात्कार अर्थ समझा जाता है और जो चिरकालसे शास्त्रोंमें भी लिखा मिलता है, वह अर्थ अगर यथार्थ है, तो मेरी रायमें वह समग्र दर्शनों द्वारा निर्विवाद और असंदिग्ध रूपसे सम्मत निम्नलिखित आध्यात्मिक प्रमेयोंमें ही घट सकता है—

१—पुनर्जन्म, २—उसका कारण, ३—पुनर्जन्मग्राही कोई तत्त्व, ४—साधनविशेष द्वारा पुनर्जन्मके कारणोंका उच्छेद ।

ये प्रमेय साक्षात्कारके विषय माने जा सकते हैं । कभी-न-कभी किसी तपस्वी द्रष्टा या द्रष्टाओंको उक्त तत्वोंका साक्षात्कार हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि आजतक किसी आध्यात्मिक दर्शनमें इन तथा ऐसे तत्त्वोंके बारेमें

१. पं० महेन्द्रकुमारसम्पादित न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भागके प्राक्कथनका अंश, ई० १९४१ ।

न तो मतभेद प्रकट हुआ है और न उनमें किसीका विरोध ही रहा है। पर उक्त मूल आध्यात्मिक प्रमेयोंके विशेष-विशेष स्वरूपके विषयमें तथा उनके व्यौरेवार विचारमें सभी प्रधान-प्रधान दर्शनोंका और कभी-कभी तो एक ही दर्शनकी अनेक शाखाओंका इतना अधिक मतभेद और विरोध शास्त्रोंमें देखा जाता है कि जिसे देखकर तटस्थ समालोचक यह कभी नहीं मान सकता कि किसी एक या सभी सम्प्रदायके व्यौरेवार मन्तव्य साक्षात्कारके विषय हुए हों। अगर ये मन्तव्य साक्षात्कृत हों तो किस सम्प्रदायके? किसी एक सम्प्रदायके प्रवर्तकको व्यौरेके बारेमें साक्षात्कर्ता—द्रष्टा साबित करना टेढ़ी खीर है। अतएव बहुत हुआ तो उक्त मूल प्रमेयोंमें दर्शनका साक्षात्कार अर्थ मान लेनेके बाद व्यौरेके बारेमें दर्शनका कुछ और ही अर्थ करना पड़ेगा।

विचार करनेसे जान पड़ता है, कि दर्शनका दूसरा अर्थ 'सबल प्रतीति' ही करना ठीक है। शब्दके अर्थोंके भी जुदे-जुदे स्तर होते हैं। दर्शनके अर्थका यह दूसरा स्तर है। हम वाचक उमास्वातिके "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रमें तथा इसकी व्याख्याओंमें वह दूसरा स्तर स्पष्ट पाते हैं। वाचकने साफ कहा है कि प्रमेयोंकी श्रद्धा ही दर्शन है। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिए कि श्रद्धाके माने है बलवती प्रतीति या विश्वास, न कि साक्षात्कार। श्रद्धा या विश्वास, साक्षात्कारको सम्प्रदायमें जीवित रखनेकी एक भूमिका विशेष है, जिसे मैंने दर्शनका दूसरा स्तर कहा है।

यों तो सम्प्रदाय हर एक देशके चिन्तकोंमें देखा जाता है। यूरोपके तत्त्व-चिन्तनकी आद्य भूमि ग्रीसके चिन्तकोंमें भी परस्पर विरोधी अनेक संप्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्व-चिन्तकोंके सम्प्रदायकी कथा कुछ निराली ही है। इस देश के सम्प्रदाय मूलमें धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी सम्प्रदायोंने तत्व-चिन्तनको आश्रय ही नहीं दिया बल्कि उसके विकास और विस्तारमें भी बहुत कुछ किया है। एक तरहसे भारतीय तत्व-चिन्तनका चमत्कारपूर्ण बौद्धिक प्रदेश जुदे-जुदे सम्प्रदायोंके प्रयत्नका ही परिणाम है। पर हमें जो सोचना है वह तो यह है कि हर एक सम्प्रदाय अपने जिन मन्तव्योंपर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्योंको दूसरा विरोधी सम्प्रदाय कतई माननेको तैयार नहीं है वे मन्तव्य साम्प्रदायिक विश्वास या साम्प्रदायिक भावनाके ही विषय माने जा सकते हैं, साक्षात्कारके विषय नहीं। इस तरह साक्षात्कारका सामान्य स्रोत सम्प्रदायोंकी भूमिपर व्यौरेके विशेष प्रवाहोंमें विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीतिका रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वासरूपमें परिणत हुआ तब उस विश्वासको स्थापित

रखने और उसका समर्थन करनेके लिए सभी सम्प्रदायोंको कल्पनाओंका, दलीलोंका तथा तर्कोंका सहारा लेना पड़ा। सभी साम्प्रदायिक तत्त्व-चिन्तक अपने-अपने विश्वासकी पुष्टिके लिए कल्पनाओंका सहारा पूरे तौरसे लेते रहे फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा सम्प्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नहीं किन्तु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओंका तथा सत्य-असत्य और अर्थ सत्य तर्कोंका समावेश भी दर्शनके अर्थमें हो गया। एक तरफसे जहाँ सम्प्रदायने मूल दर्शन याने साक्षात्कारकी रक्षा की और उसे स्पष्ट करनेके लिये अनेक प्रकारके चिन्तनको चालू रखा तथा उसे व्यक्त करनेकी अनेक मनोरम कल्पनाएँ कीं, वहाँ दूसरी तरफसे सम्प्रदायकी बाढ़पर बढ़ने तथा फूलने-फलनेवाली तत्त्व-चिन्तनकी बेल इतनी पराश्रित हो गई कि उसे सम्प्रदायके सिवाय कोई दूसरा सहारा ही न रहा। फलतः पर्देबन्द पद्मिनियोंकी तरह तत्त्व-चिन्तनकी बेल भी कोमल और संकुचित दृष्टिवाली बन गई।

हम साम्प्रदायिक चिन्तकोंका यह झुकाव रोज देखते हैं कि वे अपने चिन्तन में तो कितनी ही कमी या अपनी दलीलोंमें कितना ही लचरपन क्यों न हो उसे प्रायः देख नहीं पाते। और दूसरे विरोधी सम्प्रदायके तत्त्व-चिन्तनोंमें कितना ही सादृश्य और वैशद्य क्यों न हो उसे स्वीकार करनेमें भी हिचकिचाते हैं। साम्प्रदायिक तत्त्व-चिन्तनोंका यह भी मानस देखा जाता है कि वे सम्प्रदायान्तरके प्रमेयोंको या विशेष चिन्तनोंको अपना कर भी मुक्त कण्ठसे उसके प्रति कुतर्कता दर्शानेमें हिचकिचाते हैं। दर्शन जब साक्षात्कारकी भूमिकाको लॉघकर विश्वास-की भूमिकापर आया और उसमें कल्पनाओं तथा सत्यासत्य तर्कोंका भी समावेश किया जाने लगा, तब दर्शन साम्प्रदायिक संकुचित दृष्टियोंमें आवृत होकर, मूलमें शुद्ध आध्यात्मिक होते हुए भी अनेक दोषोंका पुञ्ज बन गया। अब तो पृथक्करण करना ही कठिन हो गया है कि दार्शनिक चिन्तनोंमें क्या कल्पनामात्र है, क्या सत्य तर्क है, या क्या असत्य तर्क है? हरएक सम्प्रदायका अनुयायी चाहे वह अपद हो, या पढ़ा-लिखा, विद्यार्थी एवं पण्डित, यह मानकर ही अपने तत्त्वचिन्तक ग्रंथोंको सुनता है या पढ़ता-पढ़ाता है, कि इस हमारे तत्त्वग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है, इसमें भ्रान्ति या सन्देहको अवकाश ही नहीं है तथा इसमें जो कुछ है वह दूसरे किसी सम्प्रदायके ग्रन्थमें नहीं है और अगर है तो भी वह हमारे सम्प्रदायसे ही उसमें गया है। इस प्रकारकी प्रत्येक सम्प्रदायकी अपूर्णमें पूर्ण मान लेनेकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बलवती है कि अगर इसका कुछ इलाज न हुआ तो मनुष्य जातिके उपकार के लिये प्रवृत्त हुआ यह दर्शन मनुष्यताका ही धातक सिद्ध होगा।

मैं समझता हूँ कि उक्त दोषोंको दूर करनेके अनेक उपायोंमेंसे एक उपाय यह भी है कि जहाँ दार्शनिक प्रमेयोंका अध्ययन तात्विक दृष्टिसे किया जाए वहाँ साथ ही साथ वह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी किया जाए। जब हम किसी भी एक दर्शनके प्रमेयोंका अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे करते हैं तब हमें अनेक दूसरे दर्शनोंके बारेमें भी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। वह जानकारी अधूरी या विपर्यस्त नहीं। पूरी और यथासम्भव यथार्थ जानकारी होते ही हमारा मानस व्यापक ज्ञानके आलोकसे भर जाता है। ज्ञानकी विशालता और स्पष्टता हमारी दृष्टिमेंसे संकुचितता तथा तज्जन्य भय आदि दोषोंको उसी तरह हटाती है जिस तरह प्रकाश तमको। हम असर्वज्ञ और अपूर्ण हैं, फिर भी अधिक सत्यके निकट पहुँचना चाहते हैं। अगर हम योगी नहीं हैं फिर भी अधिकाधिक सत्य तथा तत्त्व-दर्शनके अधिकारी बनना चाहते हैं तो हमारे वास्ते साधारण मार्ग यही है कि हम किसी भी दर्शनको यथासम्भव सर्वाङ्गीण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिसे भी पढ़ें।

न्यायकुमुदचन्द्रके सम्पादक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने मूल ग्रन्थके नीचे एक-एक छोटे-बड़े मुद्देपर जो बहुश्रुतत्वपूर्ण टिप्पण दिए हैं और प्रस्तावनामें जो अनेक सम्प्रदायोंके आचार्योंके ज्ञानमें एक दूसरेसे लेन-देनका ऐतिहासिक पर्यालोचन किया है, उन सबकी सार्थकता उपर्युक्त दृष्टिसे अध्ययन करने-करानेमें ही है। सारे न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पण तथा प्रस्तावनाका मर्मार्थ अगर कार्य साधक है तो सर्व-प्रथम अध्यापकोंके लिए। जैन हो या जैनेतर, सच्चा जिज्ञासु इसमेंसे बहुत कुछ पा सकता है। अध्यापकोंकी दृष्टि एक बार साफ हुई, उनका अवलोकन प्रदेश एक बार विस्तृत हुआ, फिर वह सुवास विधायियोंमें तथा अपद अनुयायियोंमें भी अपने-आप फैलने लगती है। इस भावी लाभकी निश्चित आशासे देखा जाए तो मुझको यह कहनेमें लेश भी संकोच नहीं होता कि सम्पादकका टिप्पण तथा प्रस्तावना विषयक अम दार्शनिक अध्ययन क्षेत्रमें साम्प्रदायिकताकी संकुचित मनोवृत्ति दूर करनेमें बहुत कारगर सिद्ध होगा।

भारतवर्षकी दर्शनोंकी जन्मस्थली और क्रीड़ाभूमि माना जाता है। यहाँका अपदजन भी ब्रह्मज्ञान, मोक्ष तथा अनेकान्त जैसे शब्दोंकी पद-पदपर प्रयुक्त करता है, फिर भी भारतका दार्शनिक यौग्यशून्य क्यों हो गया है? इसका विचार करना जरूरी है। हम देखते हैं कि दार्शनिक प्रदेशमें कुछ ऐसे दोष दाखिल हो गए हैं जिनकी ओर चिन्तकोंका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। पहली बात दर्शनोंके पठन संबन्धी उद्देश्य की है। जिसे कोई दूसरा क्षेत्र न मिले और बुद्धिप्रधान आजीविका करमी हो तो बहुधा वह दर्शनोंकी ओर

भुक्तता है। मानों दार्शनिक अभ्यासका उद्देश्य या तो प्रधानतया आजीविका हो गया है या वादविजय एवं बुद्धिविलास। इसका फल हम सर्वत्र एक ही देखते हैं कि या तो दार्शनिक गुलाम बन जाता है या सुखशील। इस तरह जहाँ दर्शन शाश्वत अमरताकी गाथा तथा अनिवार्य प्रतिक्षण मृत्युकी गाथा सिखाकर अभ्यासका संकेत करता है वहाँ उसके अभ्यासी हम निरे भीरु बन गए हैं। जहाँ दर्शन हमें सत्यासत्यका विवेक सिखाता है वहाँ हम उलटे असत्यको समझनेमें भी असमर्थ हो रहे हैं, तथा अगर उसे समझ भी लिया, तो उसका परिहार करनेके विचारसे ही काँप उठते हैं। दर्शन जहाँ दिन-रात आत्मैक्य या आत्मौपम्य सिखाता है वहाँ हम भेद-प्रमेदोंको और भी विशेष रूपसे पुष्ट करनेमें ही लग जाते हैं। यह सब विपरीत परिणाम देखा जाता है। इसका कारण एक ही है और वह है दर्शनके अध्ययनके उद्देश्यको ठीक-ठीक न समझना। दर्शन पढ़नेका अधिकारी वही हो सकता है और उसे ही पढ़ना चाहिए कि जो सत्यासत्यके विवेकका सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता हो और जो सत्यके स्वीकारकी हिम्मतकी अपेक्षा असत्यका परिहार करनेकी हिम्मत या पौरुष सर्व-प्रथम और सर्वाधिक प्रमाणमें प्रकट करना चाहता हो। संक्षेपमें दर्शनके अध्ययनका एक मात्र उद्देश्य है जीवनकी बाहरी और भीतरी शुद्धि। इस उद्देश्यको सामने रखकर ही उसका पठन-पाठन जारी रहे तभी वह मानवताका पोषक बन सकता है।

दूसरी बात है दार्शनिक प्रदेशमें नए संशोधनोंकी। अभी तक यही देखा जाता है कि प्रत्येक सम्प्रदायमें जो मान्यताएँ और जो कल्पनाएँ रुढ़ हो गई हैं उन्हींको उस सम्प्रदायमें सर्वशः प्रणीत माना जाता है और आवश्यक नए विचारप्रकाशका उनमें प्रवेश ही नहीं होने पाता। पूर्व-पूर्व पुरखोंके द्वारा किये गए और उत्तराधिकारमें दिये गए चिन्तनों तथा धारणाओंका प्रवाह ही सम्प्रदाय है। हर एक सम्प्रदायका माननेवाला अपने मन्तव्योंके समर्थनमें ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिको प्रतिष्ठाका उपयोग तो करना चाहता है, पर इस दृष्टिका उपयोग वहाँ तक ही करता है जहाँ उसे कुछ भी परिवर्तन न करना पड़े। परिवर्तन और संशोधनके नामसे या तो सम्प्रदाय घबड़ाता है या अपनेमें पहलेसे ही सब कुछ होनेकी डींग हँकता है। इसीलिए भारतका दार्शनिक पांछ पड़ गया। जहाँ-जहाँ वैज्ञानिक प्रमेयोंके द्वारा या वैज्ञानिक पद्धतिके द्वारा दार्शनिक विषयोंमें संशोधन करनेकी गुंजाइश हो वहाँ सर्वत्र उसका उपयोग अगर न किया जाएगा तो वह सनातन दार्शनिक विद्या केवल पुराणोंकी ही वस्तु रह जाएगी। अतएव दार्शनिक क्षेत्रमें संशोधन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी झुकाव होना जरूरी है।